॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ दशमोऽध्यायः

(दसवाँ अध्याय)

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—

महाबाहो	=हे महाबाहो अर्जुन!	**भूयः**	=फिर	**प्रीयमाणाय**	=मुझमें अत्यन्त प्रेम रखनेवाले
मे	=मेरे	**एव**	=भी	**ते**	=तुम्हारे लिये
परमम्	=परम	**शृणु**	=सुनो,	**हितकाम्यया**	=हितकी कामनासे
वचः	=वचनको (तुम)	**यत्**	=जिसे	**वक्ष्यामि**	=कहूँगा।
		अहम्	=मैं		

विशेष भाव—सातवें अध्यायमें भगवान्‌ने अत्यन्त कृपापूर्वक अपनी तरफसे विज्ञानसहित ज्ञान कहना आरम्भ किया था। बीचमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर आठवाँ अध्याय चला। अर्जुनके प्रश्नोंका उत्तर समाप्त होते ही भगवान्‌ने पुनः वही विज्ञानसहित ज्ञान कहनेके लिये नवाँ अध्याय आरम्भ किया। नवाँ अध्याय कहनेपर भी भगवान्‌को सन्तोष नहीं हुआ और वही विज्ञानसहित ज्ञान पुनः कहनेके लिये वे दसवाँ अध्याय आरम्भ कर देते हैं। यह भगवान्‌की विशेष कृपा है! इस अध्यायमें भगवान्‌ने उस विज्ञानसहित ज्ञानका और ढंगसे वर्णन किया है, जिसमें विभूतिका अर्थात् अपने ऐश्वर्यका वर्णन मुख्य है।

अर्जुन युद्धक्षेत्रमें आकर भी विजयकी कामना न रखकर अपना कल्याण चाहते हैं, इसलिये उनके लिये **'महाबाहो'** सम्बोधन आया है। यह सम्बोधन अर्जुनकी श्रेष्ठताका, उपदेश धारण करनेकी सामर्थ्यका, अधिकारका सूचक है।

'परमं वचः'— जीवमात्रका कल्याण करनेवाले होनेसे भगवान्‌के वचन 'परम' अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। मात्र जीवोंका कल्याण करनेवाली होनेसे ही गीता विश्वमात्रको प्रिय, विश्ववन्द्य है।

'वक्ष्यामि हितकाम्यया'—अर्जुन जीवमात्रके प्रतिनिधि हैं और अपना हित ही चाहते हैं*। अतः भगवान् उनके अर्थात् जीवमात्रके हितके उद्देश्यसे परम वचन कहते हैं। कल्याणके सिवाय जीवका अन्य कोई हित है ही नहीं। भगवान्‌के वचन भी कल्याण करनेवाले हैं और उनका उद्देश्य भी कल्याण करनेका है, इसलिये भगवान्‌की वाणीमें जीवका विशेष कल्याण (परमहित) भरा हुआ है। जीवका जितना हित भगवान् कर सकते हैं, उतना दूसरा कोई कर सकता ही नहीं—

उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥

(मानस, किष्किंधा० १२। १)

दूसरोंकी वाणीमें तो मतभेद रहता है, पर भगवान्‌की वाणी सर्वसम्मत है। भगवान् योगमें स्थित होकर गीता

---

* **'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'** (गीता २। ७)
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ (गीता ३। २)
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ (गीता ५। १)

कह रहे हैं*; अतः उनके वचन विशेष कल्याण करनेवाले हैं। भगवान्‌का योगमें स्थित होना क्या है? भगवान् सामान्य रूपसे मात्र प्राणियोंके परम सुहृद् हैं, पर जब कोई व्याकुल होकर उनकी शरणमें आता है, तब भगवान्‌के हृदयमें उसके हितके विशेष भाव प्रकट होते हैं—यही भगवान्‌का योगमें स्थित होना है†; जैसे—बछड़ेके सामने आते ही गायके शरीरमें रहनेवाला दूध उसके थनोंमें आ जाता है!

'यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया' पदोंसे भगवान् कहते हैं कि तुम्हारे भीतर मेरे प्रति प्रेमका भाव है और मेरे भीतर तुम्हारे प्रति हितका भाव है, इसलिये मैं वह विज्ञानसहित ज्ञान पुनः कहूँगा, जो मैंने सातवें और नवें अध्यायमें कहा है। इससे सिद्ध होता है कि सातवाँ, नवाँ और दसवाँ—तीनों अध्यायोंमें भगवान्‌ने प्राणिमात्रके हितकी कामनासे अपने हृदयकी बात कही है!

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

मे	= मेरे	**न**	= न	**देवानाम्**	= देवताओंका
प्रभवम्	= प्रकट होनेको	**महर्षयः**	= महर्षि;	**च**	= और
न	= न	**हि**	= क्योंकि	**महर्षीणाम्**	= महर्षियोंका
सुरगणाः	= देवता	**अहम्**	= मैं		
विदुः	= जानते हैं (और)	**सर्वशः**	= सब प्रकारसे	**आदिः**	= आदि हूँ।

विशेष भाव—सातवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने **'मनुष्याणां सहस्रेषु०'** पदोंसे जो बात कही थी, वह यहाँ **'न मे विदुः०'** पदोंसे कहते हैं। वे भगवान्‌को क्यों नहीं जानते—इसका हेतु बताते हैं कि मैं सब तरहसे देवताओं और महर्षियोंका आदि हूँ। सातवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने कहा है कि भूत, भविष्य और वर्तमानके सब प्राणियोंको मैं जानता हूँ, पर मेरेको कोई नहीं जानता। इसलिये अर्जुनने भी आगे चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकोंमें कहा है कि आपको न देवता जानते हैं और न दानव ही जानते हैं, प्रत्युत आप स्वयं ही अपने-आपसे अपने-आपको जानते हैं।

इस श्लोकमें भगवान्‌ने 'राजगुह्य' बात कही है। भगवान् विद्या, बुद्धि, योग्यता, सामर्थ्य आदिसे जाननेमें नहीं आते, प्रत्युत जिज्ञासुके श्रद्धा-विश्वाससे एवं भगवत्कृपासे ही जाननेमें आते हैं।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥

---

* **न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः॥**
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया।

(महाभारत, आश्व० १६। १२-१३)

'(भगवान् अर्जुनसे बोले—)वह सब-का-सब उसी रूपमें फिर दुहरा देना अब मेरे वशकी बात नहीं है। उस समय योगयुक्त होकर ही मैंने परमात्मतत्त्वका वर्णन किया था।'

† **ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत।**

(श्रीमद्भा० १। १। ८; १०। १३। ३)

'गुरुजन अपने प्रेमी शिष्यको गुप्त-से-गुप्त बात भी बतला दिया करते हैं।'

गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥

(मानस, बाल० ११०। १)

यः	=जो (मनुष्य)
माम्	=मुझे
अजम्	=अजन्मा,
अनादिम्	=अनादि
च	=और
लोकमहेश्वरम्	= सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर
वेत्ति	=जानता है अर्थात् दृढ़तासे (सन्देहरहित) स्वीकार कर लेता है,
सः	=वह
मर्त्येषु	=मनुष्योंमें
असम्मूढः	=ज्ञानवान् है (और)
सर्वपापैः	=(वह) सम्पूर्ण पापोंसे
प्रमुच्यते	=मुक्त हो जाता है।

विशेष भाव—नवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने व्यतिरेकरीतिसे कहा कि जो मेरेको नहीं जानता, उसका पतन हो जाता है और यहाँ अन्वयरीतिसे कहते हैं कि जो मेरेको जानता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है।

यहाँ '**वेत्ति**' का अर्थ है—दृढ़तापूर्वक, सन्देहरहित स्वीकार कर लेना; क्योंकि भगवान्‌को इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जान नहीं सकते (गीता १०। २)। अतः भगवान् जाननेका विषय नहीं हैं, प्रत्युत मानने और अनुभव करनेका विषय हैं। जाननेका विषय खुद प्रकृति भी नहीं है; फिर प्रकृतिसे अतीत भगवान् जाननेका विषय कैसे हो सकते हैं! अनुभव करनेका तात्पर्य है—अपनेको भगवान्‌में लीन कर देना, भगवान्‌से अभिन्न हो जाना। भगवान्‌से अभिन्न होकर ही भगवान्‌को जान सकते हैं; क्योंकि वास्तवमें अभिन्न ही हैं। (इसी तरह संसारसे अलग होकर ही संसारको जान सकते हैं; क्योंकि वास्तवमें अलग ही हैं।)

महर्षिगण भगवान्‌के आदिको तो नहीं जान सकते, पर वे भगवान्‌को अज-अनादि तो जानते ही हैं। भगवान्‌का अंश होनेसे जीव भी अज-अनादि है। अतः वह भगवान्‌को अज-अनादि जानेगा तो अपनेको भी वैसा ही (अज-अनादि) जानेगा; क्योंकि जीव भगवान्‌से अभिन्न होकर ही भगवान्‌को जानता है। अपनेको अज-अनादि जाननेपर वह मूढ़तारहित हो जाता है, फिर उसमें पाप कैसे रहेंगे? क्योंकि पाप तो पीछे पैदा हुए हैं, अज-अनादि पहलेसे है। '**सर्वपापैः प्रमुच्यते**' का तात्पर्य है—गुणोंके संगसे रहित होना। गुणोंका संग रहते हुए मनुष्य पापोंसे मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि गुणोंका संग पापोंका मूल कारण है।

आगे चौथेसे छठे श्लोकतक असम्मूढ़ताका ही विवेचन हुआ है, जिसमें भगवान्‌ने अपनेको सबका 'आदि' बताया है। भगवान् स्वयं 'अनादि' हैं और भावोंके तथा महर्षियोंके 'आदि' हैं।

~~~

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ ४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ ५॥

बुद्धिः	=बुद्धि,
ज्ञानम्	=ज्ञान,
असम्मोहः	=असम्मोह,
क्षमा	=क्षमा,
सत्यम्	=सत्य,
दमः	=दम,
शमः	=शम,
एव	=तथा
सुखम्	=सुख,
दुःखम्	=दुःख,
भवः	=उत्पत्ति,
अभावः	=विनाश,
भयम्	=भय,
अभयम्	=अभय
च	=और
अहिंसा	=अहिंसा,
समता	=समता,
तुष्टिः	=सन्तोष,
तपः	=तप,
दानम्	=दान,
यशः	=यश
च	=और
अयशः	=अपयश—
भूतानाम्	=प्राणियोंके (ये)
पृथग्विधाः	=अनेक प्रकारके अलग-अलग
भावाः	=(बीस) भाव
मत्तः	=मुझसे
एव	=ही
भवन्ति	=होते हैं।
~~~

विशेष भाव—ज्ञानकी दृष्टिसे तो सभी भाव प्रकृतिसे होते हैं, पर भक्तिकी दृष्टिसे सभी भाव भगवान्‌से होते हैं। अगर इन भावोंको जीवका मानें तो जीव भी भगवान्‌की ही परा प्रकृति होनेसे भगवान्‌से अभिन्न है; अतः ये भाव भगवान्‌के ही हुए। भगवान्‌में तो ये भाव निरन्तर रहते हैं, पर जीवमें अपराके संगसे आते-जाते रहते हैं। भगवान्‌से उत्पन्न होनेके कारण सभी भाव भगवत्स्वरूप ही हैं।

'**पृथग्विधाः**' कहनेका तात्पर्य है कि जैसे हाथ एक ही होता है, पर उसमें अँगुलियाँ अलग-अलग होती हैं, ऐसे ही भगवान् एक ही हैं, पर उनसे प्रकट होनेवाले भाव अलग-अलग हैं। एक ही भगवान्‌में अनेक प्रकारके परस्परविरुद्ध भाव एक साथ रहते हैं!

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ ६॥

सप्त	=सात	**मनवः**	=चौदह मनु (—ये सब-के-सब)	**येषाम्**	=जिनकी
महर्षयः	=महर्षि (और)	**मानसाः**	=(मेरे) मनसे	**लोके**	=संसारमें
पूर्वे	=उनसे भी पहले होनेवाले	**जाताः**	=पैदा हुए हैं (और)	**इमाः**	=यह
चत्वारः	=चार सनकादि	**मद्भावाः**	=मुझमें भाव (श्रद्धा-भक्ति) रखनेवाले हैं,	**प्रजाः**	=सम्पूर्ण प्रजा है।
तथा	=तथा				

विशेष भाव—सात महर्षि, चार सनकादि तथा चौदह मनु—ये सब भगवान्‌के मनसे पैदा होनेके कारण भगवान्‌से अभिन्न हैं।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

यः	=जो मनुष्य	**तत्त्वतः**	=तत्त्वसे	**अविकम्पेन**	=अविचल
मम	=मेरी	**वेत्ति**	=जानता है अर्थात् दृढ़तापूर्वक (सन्देह-रहित) स्वीकार कर लेता है,	**योगेन**	=भक्तियोगसे
एताम्	=इस	**सः**	=वह	**युज्यते**	=युक्त हो जाता है;
विभूतिम्	=विभूतिको			**अत्र**	=इसमें (कुछ भी)
च	=और			**संशयः**	=संशय
योगम्	=योग-(सामर्थ्य-)को			**न**	=नहीं है।

विशेष भाव—संसारमें जो कुछ विलक्षणता (विशेषता) देखनेमें आती है, वह सब भगवान्‌का 'योग' अर्थात् विलक्षण प्रभाव, सामर्थ्य है। उस विलक्षण प्रभावसे प्रकट होनेवाली विशेषता 'विभूति' है—इस प्रकार जो मनुष्य भगवान्‌की विभूति और योगको तत्त्वसे जान लेता है, उसकी भगवान्‌में दृढ़ भक्ति हो जाती है। एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं—ऐसा सन्देहरहित दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर लेना ही तत्त्वसे जानना है। इस प्रकार तत्त्वसे जाननेवालेको भगवान्‌ने 'ज्ञानवान्' कहा है (गीता ७। १९)।

'अविकम्प (अविचल) योग' कहनेका तात्पर्य है कि वह भक्तियोग खुद भी नहीं हिलता और उसको कोई हिला भी नहीं सकता; क्योंकि इसमें एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है।

जैसे रुपयोंसे सब वस्तुएँ मिल जाती हैं—ऐसा मानकर साधारण मनुष्य रुपयोंको ही महत्त्व देता है और उसका रुपयोंमें आकर्षण हो जाता है। ऐसे ही जो कुछ प्रभाव, महत्त्व दीखता है, वह सब भगवान्‌का ही है—ऐसा जाननेपर मनुष्यकी भगवान्‌में ही दृढ़ भक्ति हो जाती है।

'नात्र संशयः' कहनेका तात्पर्य है कि जब भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता ही नहीं है तो फिर इसमें संशय कैसे हो? इसमें संशय होनेका अवकाश ही नहीं है; क्योंकि जहाँ दो सत्ता होती है, वहीं संशय होता है। एक भगवान्‌के सिवाय और कोई है ही नहीं तो फिर वृत्ति कहाँ जायगी, क्यों जायगी, किसमें जायगी और कैसे जायगी? इसलिये एक भगवान्‌में ही अविचल भक्ति हो जाती है—इसमें सन्देह नहीं है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥

अहम्	= मैं	**प्रवर्तते**	= प्रवृत्त हो रहा है अर्थात् चेष्टा कर रहा है—		प्रेम रखते हुए
सर्वस्य	= संसारमात्रका			**बुधाः**	= बुद्धिमान् भक्त
प्रभवः	= प्रभव (मूल कारण) हूँ,			**माम्**	= मेरा ही
		इति	= ऐसा	**भजन्ते**	= भजन करते हैं—सब प्रकारसे मेरे ही शरण होते हैं।
मत्तः	= (और) मुझसे ही	**मत्वा**	= मानकर		
सर्वम्	= सारा संसार	**भावसमन्विताः**	= मुझमें ही श्रद्धा-		

विशेष भाव—लोग रुपयोंको इसलिये बहुत महत्त्व देते हैं कि उनसे सब वस्तुएँ मिल सकती हैं। रुपयोंसे तो वस्तुएँ मिलती हैं, पैदा नहीं होतीं, पर भगवान्‌से सम्पूर्ण वस्तुएँ पैदा भी होती हैं और मिलती भी हैं! इस प्रकार जो भगवान्‌के महत्त्वको जान लेते हैं, वे तुच्छ रुपयोंके लोभमें न फँसकर भगवान्‌के ही भजनमें लग जाते हैं—**'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत'** (गीता १५। १९)।

भगवान् कहते हैं कि पदार्थ और व्यक्ति भी मेरेसे होते हैं **(अहं सर्वस्य प्रभवः)** और क्रियाएँ भी मेरेसे होती हैं **(मत्तः सर्वं प्रवर्तते)**। परन्तु जीव पदार्थों और क्रियाओंसे सम्बन्ध जोड़कर, उनको अपना मानकर, उनका भोक्ता और कर्ता बनकर बँध जाता है। भोक्ता बननेसे पदार्थ बन्धनकारक हो जाते हैं और कर्ता बननेसे क्रियाएँ बन्धनकारक हो जाती हैं। अगर जीव भोक्ता और कर्ता न बने तो बन्धन है ही नहीं।

संसारमें जो भी प्रभाव देखनेमें आता है, वह सब भगवान्‌का ही है—यह बात भगवान्‌ने गीतामें **'मत्तः'** पदसे कई जगह कही है; जैसे—

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' (७। ७)

'मेरे सिवाय इस संसारका दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी कारण तथा कार्य नहीं है।'

'मत्त एवेति तान्विद्धि' (७। १२)

'ये (सात्त्विक, राजस और तामस) भाव मुझसे ही होते हैं—ऐसा उनको समझो।'

'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः' (१०। ५)

'प्राणियोंके ये (बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह आदि) अनेक प्रकारके अलग-अलग भाव मुझसे ही होते हैं।'

'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' (१५। १५)

'मेरेसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संशय आदि दोषोंका नाश) होता है।'

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥

मच्चिताः	= मुझमें चित्तवाले	**परस्परम्**	= आपसमें	**च**	= और
मद्गतप्राणाः	= मुझमें प्राणोंको अर्पण करनेवाले (भक्तजन)	**बोधयन्तः**	= (मेरे गुण, प्रभाव आदिको) जनाते हुए	**कथयन्तः**	= उनका कथन करते हुए
				नित्यम्	= नित्य-निरन्तर

तुष्यन्ति	=सन्तुष्ट रहते हैं	**माम्**	=मुझमें	**रमन्ति**	=प्रेम करते हैं।
च	=और	**च**	=ही		

विशेष भाव—यहाँ भगवान् सातवें श्लोकमें वर्णित अविचल भक्तियोगका वर्णन करते हैं। भगवान्के भक्तोंका चित्त एक भगवान्को छोड़कर कहीं नहीं जाता। उनकी दृष्टिमें जब एक भगवान्के सिवाय और कुछ है ही नहीं तो फिर उनका चित्त कहाँ जायगा, कैसे जायगा और क्यों जायगा? वे भक्त भगवान्के लिये ही जीते हैं और उनकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ भी भगवान्के लिये ही होती हैं। कोई सुननेवाला आ जाय तो वे भगवान्के गुण, प्रभाव आदिकी विलक्षण बातोंका ज्ञान कराते हैं, भगवान्की कथा-लीलाका वर्णन करते हैं और कोई सुनानेवाला आ जाय तो प्रेमपूर्वक सुनते हैं। न तो कहनेवाला तृप्त होता है और न सुननेवाला ही तृप्त होता है! तृप्ति नहीं होती—यह वियोग है और नित नया रस मिलता है—यह योग है। इस वियोग और योगके कारण प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है। नारदभक्तिसूत्रमें आया है—

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च॥ ६८॥

'ऐसे अनन्य भक्त कण्ठावरोध, रोमाञ्च और अश्रुयुक्त नेत्रवाले होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोंको और पृथ्वीको पवित्र कर देते हैं।'

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १०॥

तेषाम्	=उन	**भजताम्**	=(मेरा) भजन करनेवाले भक्तोंको	**येन**	=जिससे
सतत-युक्तानाम्	=नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए (और)	**तम्**	=(मैं) वह	**ते**	=उनको
प्रीतिपूर्वकम्	=प्रेमपूर्वक	**बुद्धियोगम्**	=बुद्धियोग	**माम्**	=मेरी
		ददामि	=देता हूँ,	**उपयान्ति**	=प्राप्ति हो जाती है।

विशेष भाव—जबतक राग-द्वेष (विषमता) है, तबतक संसार ही दीखता है, भगवान् नहीं दीखते। भगवान् द्वन्द्वातीत हैं। जबतक राग-द्वेषरूप द्वन्द्व रहता है, तबतक दो चीजें दीखती हैं, एक चीज नहीं दीखती। जब राग-द्वेष मिट जाते हैं, तब एक भगवान्के सिवाय कुछ नहीं दीखता! तात्पर्य है कि राग-द्वेष मिटनेपर अर्थात् समता आनेपर 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा अनुभव हो जाता है। इसलिये भगवान् अपने भक्तोंको समता देते हैं। समता ही '**बुद्धियोग**' अर्थात् कर्मयोग है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८)। गीतामें कर्मयोगको '**बुद्धियोग**' नामसे कहा गया है; जैसे—'**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय**' (२। ४९), '**बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव**' (१८। ५७)। बुद्धियोग प्राप्त होनेपर भक्त दूसरेके दुःखसे दुःखी होकर उसको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करता है।

एक चिन्तन 'करते' हैं और एक चिन्तन 'होता' है। जो चिन्तन, भजन करते हैं, वह नकली (कृत्रिम) होता है और जो स्वतः होता है, वह असली होता है। किया जानेवाला चिन्तन निरन्तर नहीं होता, पर होनेवाला चिन्तन श्वासकी तरह निरन्तर होता है, उसमें अन्तर नहीं पड़ता—'**सततयुक्तानाम्**'। शरीरमें प्रियता, आसक्ति होनेसे भगवान्का चिन्तन करना पड़ता है और शरीरका चिन्तन स्वतः होता है। परन्तु भगवान्में प्रियता (अपनापन) होनेसे भजन करना नहीं पड़ता, प्रत्युत स्वतः होता है और छूटता भी नहीं। इसलिये यहाँ प्रेमपूर्वक भजन करनेकी बात आयी है—'**भजतां प्रीतिपूर्वकम्**'।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ ११॥

तेषाम् = उन भक्तोंपर
अनुकम्पार्थम् = कृपा करनेके लिये
एव = ही
आत्मभावस्थः = उनके स्वरूप-(होनेपन-)में रहनेवाला
अहम् = मैं (उनके)
अज्ञानजम् = अज्ञानजन्य
तमः = अन्धकारको
भास्वता = देदीप्यमान
ज्ञानदीपेन = ज्ञानरूप दीपकके द्वारा
नाशयामि = नष्ट कर देता हूँ।

विशेष भाव—यद्यपि कर्मयोग तथा ज्ञानयोग—दोनों साधन हैं और भक्तियोग साध्य है, तथापि भगवान् अपने भक्तोंको कर्मयोग भी दे देते हैं—'**ददामि बुद्धियोगं तम्**' और ज्ञानयोग भी दे देते हैं—'**ज्ञानदीपेन भास्वता**'। अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्की ही हैं। इसलिये भगवान् कृपा करके अपने भक्तको अपराकी प्रधानतासे होनेवाला कर्मयोग और पराकी प्रधानतासे होनेवाला ज्ञानयोग—दोनों प्रदान करते हैं। अत: भक्तको कर्मयोगका प्रापणीय तत्त्व 'निष्कामभाव' और ज्ञानयोगका प्रापणीय तत्त्व 'स्वरूपबोध'—दोनों ही सुगमतासे प्राप्त हो जाते हैं। कर्मयोग प्राप्त होनेपर भक्तके द्वारा संसारका उपकार होता है और ज्ञानयोग प्राप्त होनेपर भक्तका देहाभिमान दूर हो जाता है।

भक्त भगवान्के चिन्तनमें, प्रेममें ही सन्तुष्ट और मग्न रहता है। उसको न तो अपनेमें कोई कमी दीखती है और न कुछ पानेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। जैसे बालक सर्वथा माँके ही आश्रित रहता है तो उसकी दृष्टि अपनी कमियोंकी तरफ जाती ही नहीं! माँ ही उसका खयाल रखती है, उसको स्नान कराती है, मैले कपड़े उतारकर स्वच्छ कपड़े पहनाती है। ऐसे ही भक्त सर्वथा भगवान्के ही आश्रित हो जाता है कि 'मैं जैसा भी हूँ, भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'। वह अपनी तरफ देखता ही नहीं। इसलिये भगवान् ही उसके भीतर स्थित अज्ञानको तत्त्वज्ञानके द्वारा नष्ट कर देते हैं। बालकमें तो मूढ़ता विशेष रहती है, पर भक्तमें विवेक विशेष रहता है।

भक्तका खास कर्तव्य है—भगवान्को अपना मानना। भक्त अपने कर्तव्यका पालन करता है तो भगवान् भी अपने कर्तव्यका पालन करते हैं और उसके बिना माँगे, बिना चाहे, अपनी तरफसे कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंकी सामर्थ्य प्रदान कर देते हैं, जिससे उसमें किसी प्रकारकी कमी न रहे।

कर्मयोगमें शान्तरस, ज्ञानयोगमें अखण्डरस और भक्तियोगमें अनन्तरस है। शान्तरस और अखण्डरसमें अनन्तरस नहीं है, पर अनन्तरसमें शान्तरस भी है और अखण्डरस भी है।

कर्मयोग और ज्ञानयोग लौकिक साधन हैं तथा भक्तियोग अलौकिक साधन है। अलौकिककी प्राप्ति होनेपर लौकिककी प्राप्ति भगवत्कृपासे स्वत: हो जाती है, पर लौकिककी प्राप्ति होनेपर अलौकिककी प्राप्ति नहीं होती। कारण कि अलौकिकमें तो लौकिक आ जाता है, पर लौकिकमें अलौकिक नहीं आता।

ज्ञानी तो भक्तिसे रहित हो सकता है, पर भक्त ज्ञानसे रहित नहीं हो सकता*। गोपियोंने श्रुतियोंका अध्ययन भी नहीं किया था, ज्ञानी महापुरुषोंका संग भी नहीं किया था और व्रत, तप आदि भी नहीं किये थे†, फिर भी उनमें विलक्षण ज्ञान था‡! तात्पर्य है कि भक्तको स्वरूपका भी बोध हो जाता है। '**वासुदेवः सर्वम्**' का बोध तो उसको है ही!

---

* **मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥**
(मानस, अरण्य० ३६।५)

† **ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।**
अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः॥ (श्रीमद्भा० ११।१२।७)

'उन्होंने न तो वेदोंका अध्ययन किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषोंकी उपासना ही की थी। इसी प्रकार उन्होंने कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत और कोई तपस्या भी नहीं की थी। बस, केवल सत्संग-(प्रेम-)के प्रभावसे ही वे मुझे प्राप्त हो गये।'

‡ **न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।**
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥
(श्रीमद्भा० १०।३१।४)

(गोपियाँ कहती हैं—) 'हे सखे! आप निश्चय ही केवल यशोदाके पुत्र ही नहीं हैं, प्रत्युत सम्पूर्ण प्राणियोंकी अन्तरात्माके साक्षी हैं। ब्रह्माजीकी प्रार्थना सुनकर विश्वकी रक्षाके लिये ही आप यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं।'

'आत्मभावस्थः'—जीवमें भगवान् रहते हैं; क्योंकि वह भगवान्का ही अंश है। वास्तवमें भगवान् ही जीवरूपसे प्रकट हुए हैं; क्योंकि भगवान्की परा प्रकृति होनेसे जीव भगवान्से अभिन्न है। उपनिषद्में आया है कि शरीरोंकी रचना करके भगवान् आप ही उनमें प्रविष्ट हो गये—**'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** (तैत्तिरीय० २। ६)।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ १३॥

अर्जुन बोले—

परम्	=परम	**पुरुषम्**	=पुरुष,	**देवलः**	=देवल
ब्रह्म	=ब्रह्म,	**आदिदेवम्**	=आदिदेव,	**तथा**	=तथा
परम्	=परम	**अजम्**	=अजन्मा (और)	**व्यासः**	=व्यास
धाम	=धाम (और)	**विभुम्**	=सर्वव्यापक हैं—	**आहुः**	=कहते हैं
		त्वाम्	=(ऐसा) आपको	**च**	=और
परमम्	=महान्	**सर्वे**	=सब-के-सब		
पवित्रम्	=पवित्र	**ऋषयः**	=ऋषि,	**स्वयम्**	=स्वयं आप
भवान्	=आप ही हैं।	**देवर्षिः**	=देवर्षि,	**एव**	=भी
शाश्वतम्	=(आप) शाश्वत,	**नारदः**	=नारद,	**मे**	=मेरे प्रति
दिव्यम्	=दिव्य	**असितः**	=असित,	**ब्रवीषि**	=कहते हैं।

विशेष भाव—निर्गुण-निराकारके लिये **'परं ब्रह्म'**, सगुण-निराकारके लिये **'परं धाम'** और सगुण-साकारके लिये **'पवित्रं परमं भवान्'** पदोंका प्रयोग करके अर्जुन भगवान्से मानो यह कहते हैं कि समग्र परमात्मा आप ही हैं (गीता ७। २९-३०, ८। १—४)।

जो स्वयं भी शुद्ध हो और दूसरोंको भी शुद्ध करे, वह 'परम पवित्र' है। भगवान् परम पवित्र हैं और उनके नाम, रूप आदि सब भी परम पवित्र हैं। चौथे अध्यायके अड़तीसवें श्लोकमें ज्ञानको इस लोकमें सबसे पवित्र बताया गया है—**'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'**। परन्तु वह ज्ञान भी समग्र भगवान्के अन्तर्गत है। अतः भगवान् ज्ञानसे भी अधिक पवित्र हैं।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥ १४॥

केशव	=हे केशव!	**एतत्**	=यह	**भगवन्**	=हे भगवन्!
माम्	=मुझसे (आप)	**सर्वम्**	=सब (मैं)	**ते**	=आपके
यत्	=जो कुछ	**ऋतम्**	=सत्य	**व्यक्तिम्**	=प्रकट होनेको
वदसि	=कह रहे हैं,	**मन्ये**	=मानता हूँ।	**न**	=न

हि	=तो	**विदुः**	=जानते हैं (और)	**दानवाः**	=दानव ही जानते हैं।
देवाः	=देवता	**न**	=न		

विशेष भाव—भगवान्‌को अपनी शक्तिसे कोई जान नहीं सकता, प्रत्युत भगवान्‌की कृपासे ही जान सकता है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

(मानस २। १२७। २)

भगवान्‌के यहाँ बुद्धिके चमत्कार, सिद्धियाँ नहीं चल सकतीं। बड़े-बड़े भौतिक आविष्कारोंसे कोई भगवान्‌को नहीं जान सकता।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५॥

भूतभावन	=हे भूतभावन!	**पुरुषोत्तम**	=हे पुरुषोत्तम!	**आत्मना**	=अपने-आपसे
भूतेश	=हे भूतेश!	**त्वम्**	=आप	**आत्मानम्**	=अपने-आपको
देवदेव	=हे देवदेव!	**स्वयम्**	=स्वयं		
जगत्पते	=हे जगत्पते!	**एव**	=ही	**वेत्थ**	=जानते हैं।

विशेष भाव—आप स्वयं ही अपने-आपसे अपने-आपको जानते हैं—इसका तात्पर्य है कि जाननेवाले भी आप ही हैं, जाननेमें आनेवाले भी आप ही हैं और जानना भी आप ही हैं अर्थात् सब कुछ आप ही हैं। जब आपके सिवाय और कोई है ही नहीं तो फिर कौन किसको जाने?

तत्त्वको जाननेकी चेष्टा करेंगे तो तत्त्वसे दूर हो जायँगे; क्योंकि तत्त्वको ज्ञेय (जाननेका विषय) बनायेंगे, तभी तो उसको जानना चाहेंगे! तत्त्व तो सबका ज्ञाता है, ज्ञेय नहीं। सबके ज्ञाताका कोई और ज्ञाता नहीं हो सकता*। जैसे, आँखसे सबको देखते हैं, पर आँखसे आँखको नहीं देख सकते; क्योंकि आँखकी देखनेकी शक्ति इन्द्रियका विषय नहीं है अर्थात् इन्द्रियाँ खुद अतीन्द्रिय हैं†। अतः वह परमात्मतत्त्व स्वयं ही स्वयंका ज्ञाता है।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६॥

हि	=इसलिये	**लोकान्**	=सम्पूर्ण लोकोंको	**आत्मविभूतयः**	=अपनी दिव्य विभूतियोंका
याभिः	=जिन	**व्याप्य**	=व्याप्त करके		
विभूतिभिः	=विभूतियोंसे	**तिष्ठसि**	=स्थित हैं, (उन सभी)	**अशेषेण**	=सम्पूर्णतासे
त्वम्	=आप			**वक्तुम्**	=वर्णन करनेमें
इमान्	=इन	**दिव्याः,**		**अर्हसि**	=(आप ही) समर्थ हैं।

* **'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा'** (बृहदारण्यक० ३।७।२३)

'इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है।'

'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृहदारण्यक० २।४।१४)

'सबके विज्ञाताको किसके द्वारा जाना जाय?'

† इन्द्रियोंको देखनेवाली इन्द्रियाँ नहीं हैं, मन है। मनको देखनेवाला मन नहीं है, बुद्धि है। बुद्धिको देखनेवाली बुद्धि नहीं है, अहम् है। अहम्‌को देखनेवाला अहम् नहीं है। स्वयं है। स्वयंको देखनेवाला स्वयं ही है।

विशेष भाव—अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं कि अपनी सम्पूर्ण विभूतियोंका आप ही वर्णन कर सकते हैं; क्योंकि आप स्वयं ही अपने-आपको जानते हैं (गीता १०। १५)। दूसरा आपको जान ले—यह सम्भव ही नहीं है (गीता १०। २, १४)। अतः आप स्वयं ही अपनी पूरी-की-पूरी विभूतियोंको कह दें, जिससे मेरेको अविचल भक्तियोगकी प्राप्ति हो जाय।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ १७॥

योगिन्	=हे योगिन्!	**कथम्**	=कैसे	**मया**	=मेरे द्वारा
सदा	=निरन्तर	**विद्याम्**	=जानूँ?	**चिन्त्यः, असि**	=चिन्तन किये जा सकते हैं अर्थात् किन-किन भावोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ?
परिचिन्तयन्	=साङ्गोपाङ्ग चिन्तन करता हुआ	**च**	=और		
		भगवन्	=हे भगवन्!		
अहम्	=मैं	**केषु, केषु**	=किन-किन		
त्वाम्	=आपको	**भावेषु**	=भावोंमें (आप)		

विशेष भाव—अर्जुनके प्रश्नका तात्पर्य है कि हे भगवन्! आप किन-किन रूपोंमें प्रकट हुए हैं, जिन रूपोंमें मैं आपका चिन्तन कर सकूँ? अर्जुनने यह प्रश्न सुगमतापूर्वक भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे किया है। अर्जुन साधकमात्रके प्रतिनिधि हैं; अतः उनका प्रश्न साधकोंके लिये है।

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णको तो जानते थे, पर उनके समग्ररूपको नहीं जानते थे। उनमें भगवान्‌के समग्ररूपको जाननेकी जिज्ञासा थी। इसलिये वे पूछते हैं कि मैं आपके समग्ररूपको कैसे जानूँ? किन रूपोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ? इससे सिद्ध होता है कि विभूतियाँ गौण नहीं हैं, प्रत्युत भगवत्प्राप्तिका माध्यम होनेसे मुख्य हैं। विभूतिरूपसे साक्षात् भगवान् ही हैं। जबतक मनुष्य भगवान्‌को नहीं जानता, तबतक उसमें गौण अथवा मुख्यकी भावना रहती है। भगवान्‌को जाननेपर गौण अथवा मुख्यकी भावना नहीं रहती; क्योंकि भगवान्‌के सिवाय कुछ है ही नहीं, फिर उसमें क्या गौण और क्या मुख्य? तात्पर्य है कि गौण अथवा मुख्य साधककी दृष्टिमें है, भगवान् और सिद्धकी दृष्टिमें नहीं।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

जनार्दन	=हे जनार्दन!	**विस्तरेण**	=विस्तारसे	**शृण्वतः**	=सुनते-सुनते
आत्मनः	=(आप) अपने	**भूयः**	=फिर	**मे**	=मेरी
योगम्	=योग-(सामर्थ्य-) को	**कथय**	=कहिये;	**तृप्तिः**	=तृप्ति
		हि	=क्योंकि	**न**	=नहीं
च	=और	**अमृतम्**	=(आपके) अमृतमय वचन	**अस्ति**	=हो रही है।
विभूतिम्	=विभूतियोंको				

विशेष भाव—जैसे भूखेको अन्न और प्यासेको जल अच्छा लगता है, ऐसे ही जिज्ञासु अर्जुनको भगवान्‌के वचन बहुत विलक्षण लगते हैं। उनको भगवान्‌के वचन ज्यों-ज्यों विलक्षण दीखते हैं, त्यों-ही-त्यों उनका भगवान्‌के प्रति विशेष भाव प्रकट होता जाता है*।

* द्रष्टव्य—'गीता-दर्पण' पुस्तकका बारहवाँ लेख—'गीतामें भगवान्‌का विविध रूपोंमें प्रकट होना'।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ १९॥

श्रीभगवान् बोले—

हन्त	=हाँ, ठीक है।	**प्राधान्यतः**	=प्रधानतासे (संक्षेपसे)	**मे**	=मेरी विभूतियोंके
दिव्याः,				**विस्तरस्य**	=विस्तारका
आत्मविभूतयः	=मैं अपनी दिव्य विभूतियोंको	**कथयिष्यामि**	=कहूँगा;	**अन्तः**	=अन्त
		हि	=क्योंकि	**न**	=नहीं
ते	=तेरे लिये	**कुरुश्रेष्ठ**	=हे कुरुश्रेष्ठ!	**अस्ति**	=है।

विशेष भाव—भगवान् अनन्त हैं; अतः उनकी विभूतियाँ भी अनन्त हैं। इस कारण भगवान्‌की विभूतियोंके विस्तारको न तो कोई कह सकता है और न कोई सुन ही सकता है। अगर कोई कह-सुन ले तो फिर वे अनन्त कैसे रहेंगी? इसलिये भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी विभूतियोंको संक्षेपसे कहूँगा।

अर्जुनको '**कुरुश्रेष्ठ**' कहनेमें भगवान्‌का तात्पर्य है कि तेरे मनमें मेरेको जाननेकी इच्छा हो गयी, इसलिये तू श्रेष्ठ है!

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ २०॥

गुडाकेश	=हे नींदको जीतनेवाले अर्जुन!	**च**	=तथा	**सर्वभूताशय-स्थितः**	=सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरण-(हृदय-) में स्थित
		अन्तः	=अन्तमें		
भूतानाम्	=सम्पूर्ण प्राणियोंके	**अहम्**	=मैं		
आदिः	=आदि,	**एव**	=ही हूँ	**आत्मा**	=आत्मा भी
मध्यम्	=मध्य	**च**	=और	**अहम्**	=मैं ही हूँ।

विशेष भाव—सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें भगवान् ही हैं—इसका तात्पर्य यह है कि एक भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं और आत्मा उनकी विभूति है। आत्मा भगवान्‌की 'परा प्रकृति' है और अन्तःकरण 'अपरा प्रकृति' है (गीता ७। ४-५)। परा और अपरा—दोनों ही भगवान्‌से अभिन्न हैं।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ २१॥

अहम्	=मैं	**अंशुमान्**	=किरणोंवाला	**नक्षत्राणाम्**	=नक्षत्रोंका अधिपति
आदित्यानाम्	=अदितिके पुत्रोंमें	**रविः**	=सूर्य हूँ।		
विष्णुः	=विष्णु (वामन)	**अहम्**	=मैं		
ज्योतिषाम्	=(और) प्रकाशमान वस्तुओंमें	**मरुताम्**	=मरुतोंका	**शशी**	=चन्द्रमा
		मरीचिः	=तेज (और)	**अस्मि**	=हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ २२॥

वेदानाम्	=(मैं) वेदोंमें	**अस्मि**	=हूँ,	**भूतानाम्**	=प्राणियोंकी
सामवेदः	=सामवेद	**इन्द्रियाणाम्**	=इन्द्रियोंमें		
अस्मि	=हूँ,	**मनः**	=मन	**चेतना**	=चेतना
देवानाम्	=देवताओंमें	**अस्मि**	=हूँ		
वासवः	=इन्द्र	**च**	=और	**अस्मि**	=हूँ।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥ २३॥

रुद्राणाम्	=रुद्रोंमें	**अस्मि**	=मैं हूँ।	**शिखरिणाम्**	=शिखरवाले पर्वतोंमें
शङ्करः	=शंकर	**वसूनाम्**	=वसुओंमें		
च	=और	**पावकः**	=पवित्र करनेवाली अग्नि	**मेरुः**	=सुमेरु
यक्षरक्षसाम्	=यक्ष-राक्षसोंमें			**अहम्**	=मैं
वित्तेशः	=कुबेर	**च**	=और	**अस्मि**	=हूँ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥ २४॥

पार्थ	=हे पार्थ!	**विद्धि**	=समझो।	**सरसाम्**	=जलाशयोंमें
पुरोधसाम्	=पुरोहितोंमें	**सेनानीनाम्**	=सेनापतियोंमें		
मुख्यम्	=मुख्य			**सागरः**	=समुद्र
बृहस्पतिम्	=बृहस्पतिको	**स्कन्दः**	=कार्तिकेय	**अहम्**	=मैं
माम्	=मेरा स्वरूप	**च**	=और	**अस्मि**	=हूँ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥ २५॥

महर्षीणाम्	=महर्षियोंमें	**अक्षरम्**	=अक्षर अर्थात् प्रणव	**जपयज्ञः**	=जपयज्ञ (और)
भृगुः	=भृगु (और)			**स्थावराणाम्**	=स्थिर रहनेवालोंमें
गिराम्	=वाणियों-(शब्दों-) में	**अहम्**	=मैं		
		अस्मि	=हूँ।	**हिमालयः**	=हिमालय
एकम्	=एक	**यज्ञानाम्**	=सम्पूर्ण यज्ञोंमें	**अस्मि**	=मैं हूँ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ २६॥

सर्ववृक्षाणाम् = सम्पूर्ण वृक्षोंमें
अश्वत्थः = पीपल,
देवर्षीणाम् = देवर्षियोंमें
नारदः = नारद,
गन्धर्वाणाम् = गन्धर्वोंमें
चित्ररथः = चित्ररथ
च = और
सिद्धानाम् = सिद्धोंमें
कपिलः = कपिल
मुनिः = मुनि (मैं हूँ)।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥ २७॥

अश्वानाम् = घोड़ोंमें
अमृतोद्भवम् = अमृतके साथ समुद्रसे प्रकट होनेवाले
उच्चैःश्रवसम् = उच्चैःश्रवा नामक घोड़ेको,
गजेन्द्राणाम् = श्रेष्ठ हाथियोंमें
ऐरावतम् = ऐरावत नामक हाथीको
च = और
नराणाम् = मनुष्योंमें
नराधिपम् = राजाको
माम् = मेरी विभूति
विद्धि = मानो।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ २८॥

आयुधानाम् = आयुधोंमें
वज्रम् = वज्र (और)
धेनूनाम् = धेनुओंमें
कामधुक् = कामधेनु
अहम् = मैं
अस्मि = हूँ।
प्रजनः = सन्तान-उत्पत्तिका हेतु
कन्दर्पः = कामदेव
अस्मि = मैं हूँ
च = और
सर्पाणाम् = सर्पोंमें
वासुकिः = वासुकि
अस्मि = मैं हूँ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ २९॥

नागानाम् = नागोंमें
अनन्तः = अनन्त (शेषनाग)
च = और
यादसाम् = जल-जन्तुओंका अधिपति
वरुणः = वरुण
अहम् = मैं
अस्मि = हूँ।
पितॄणाम् = पितरोंमें
अर्यमा = अर्यमा
च = और
संयमताम् = शासन करनेवालोंमें
यमः = यमराज
अहम् = मैं
अस्मि = हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ ३०॥

दैत्यानाम् = दैत्योंमें
प्रह्लादः = प्रह्लाद
च = और
कलयताम् = गणना करनेवालों-(ज्योतिषियों-)में
कालः = काल
अहम् = मैं
अस्मि = हूँ
च = तथा
मृगाणाम् = पशुओंमें
मृगेन्द्रः = सिंह
च = और
पक्षिणाम् = पक्षियोंमें
वैनतेयः = गरुड़
अहम् = मैं हूँ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ ३१॥

पवताम्	= पवित्र करनेवालोंमें	**अहम्**	= मैं	**अस्मि**	= मैं हूँ
पवनः	= वायु (और)	**अस्मि**	= हूँ।	**च**	= और
शस्त्रभृताम्	= शस्त्रधारियोंमें	**झषाणाम्**	= जल-जन्तुओंमें	**स्रोतसाम्**	= नदियोंमें
रामः	= राम	**मकरः**	= मगर	**जाह्नवी**	= गङ्गाजी
				अस्मि	= मैं हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ ३२॥

अर्जुन	= हे अर्जुन!	**अहम्**	= मैं	**प्रवदताम्**	= परस्पर शास्त्रार्थ करनेवालोंका
सर्गाणाम्	= सम्पूर्ण सृष्टियोंके	**एव**	= ही हूँ।	**वादः**	= (तत्त्व-निर्णयके लिये किया जानेवाला) वाद
आदिः	= आदि,	**विद्यानाम्**	= विद्याओंमें	**अहम्**	= मैं हूँ।
मध्यम्	= मध्य	**अध्यात्मविद्या**	= अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या)		
च	= तथा	**च**	= और		
अन्तः	= अन्तमें				

विशेष भाव—लौकिक विद्याओंमें 'अध्यात्मविद्या' अर्थात् आत्मज्ञान श्रेष्ठ है। इसीको गीताके अध्यायोंकी पुष्पिकामें 'ब्रह्मविद्या' कहा गया है।

अध्यात्मविद्या अर्थात् आत्मज्ञानको अपनी विभूति बतानेका कारण है कि यह सबसे सरल है, सबसे सुगम है और सबके प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। इसको करनेमें, समझनेमें और पानेमें कोई कठिनता है ही नहीं। इसमें करना, समझना और पाना लागू होता ही नहीं। कारण कि यह नित्यप्राप्त है और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सम्पूर्ण अवस्थाओंमें सदा ज्यों-का-त्यों मौजूद है। आत्मज्ञान जितना प्रत्यक्ष है, उतना प्रत्यक्ष यह संसार भी नहीं है। तात्पर्य है कि हमारे अनुभवमें आत्मज्ञान जितना स्पष्ट आता है, उतना स्पष्ट संसार नहीं आता। इस बातको इस प्रकार समझना चाहिये। हम अपने बालकपनको देखें और वर्तमान अवस्थाको देखें तो शरीर वही नहीं रहा, आदत वही नहीं रही, भाषा वही नहीं रही, व्यवहार वही नहीं रहा, स्थान वही नहीं रहा, समय वही नहीं रहा, साथी वही नहीं रहे, क्रियाएँ वही नहीं रहीं, विचार वही नहीं रहे; सब कुछ बदल गया, पर सत्तारूपसे हम स्वयं नहीं बदले, तभी हम कहते हैं कि 'मैं तो वही हूँ, जो बालकपनमें था'। तात्पर्य यह हुआ कि जो बदल गया, वह अलग स्वभाववाला है और जो नहीं बदला, वह अलग स्वभाववाला है। जो नहीं बदला, वह हमारा असली स्वरूप अर्थात् शरीरी है और जो बदल गया, वह शरीर है। यह आत्मज्ञान है।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥ ३३॥

अक्षराणाम्	= अक्षरोंमें	**अहम्**	= मैं	**विश्वतोमुखः**	= सब ओर मुखवाला
अकारः	= अकार	**अस्मि**	= हूँ।	**धाता**	= धाता (सबका पालन-पोषण करनेवाला भी)
च	= और	**अक्षयः, कालः**	= अक्षयकाल अर्थात् कालका भी महाकाल (तथा)	**अहम्, एव**	= मैं ही हूँ।
सामासिकस्य	= समासोंमें				
द्वन्द्वः	= द्वन्द्व समास				

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥ ३४॥

सर्वहरः	= सबका हरण करनेवाली
मृत्युः	= मृत्यु
च	= और
भविष्यताम्	= भविष्यमें
उद्भवः	= उत्पन्न होनेवाला
अहम्	= मैं हूँ
च	= तथा
नारीणाम्	= स्त्री-जातिमें
कीर्तिः	= कीर्ति,
श्रीः	= श्री,
वाक्	= वाक् (वाणी),
स्मृतिः	= स्मृति,
मेधा	= मेधा,
धृतिः	= धृति
च	= और
क्षमा	= क्षमा (मैं हूँ)।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ ३५॥

साम्नाम्	= गायी जानेवाली श्रुतियोंमें
बृहत्साम	= बृहत्साम
तथा	= और
छन्दसाम्	= सब छन्दोंमें
गायत्री	= गायत्री छन्द
अहम्	= मैं हूँ।
मासानाम्	= बारह महीनोंमें
मार्गशीर्षः	= मार्गशीर्ष (और)
ऋतूनाम्	= छः ऋतुओंमें
कुसुमाकरः	= वसन्त
अहम्	= मैं हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥

छलयताम्	= छल करनेवालोंमें
द्यूतम्	= जुआ (और)
तेजस्विनाम्	= तेजस्वियोंमें
तेजः	= तेज
अहम्	= मैं
अस्मि	= हूँ।
जयः	= (जीतनेवालोंकी) विजय
अस्मि	= मैं हूँ।
व्यवसायः	= (निश्चय करने-वालोंका) निश्चय
सत्त्ववताम्	= (और) सात्त्विक मनुष्योंका
सत्त्वम्	= सात्त्विक भाव
अहम्	= मैं
अस्मि	= हूँ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥

वृष्णीनाम्	= वृष्णिवंशियोंमें
वासुदेवः	= वसुदेवपुत्र श्रीकृष्ण (और)
पाण्डवानाम्	= पाण्डवोंमें
धनञ्जयः	= अर्जुन
अस्मि	= मैं हूँ।
मुनीनाम्	= मुनियोंमें
व्यासः	= वेदव्यास (और)
कवीनाम्	= कवियोंमें
उशना, कविः	= कवि शुक्राचार्य
अपि	= भी
अहम्	= मैं हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ ३८॥

दमयताम्	=दमन करनेवालोंमें	**अस्मि**	=मैं हूँ।	**ज्ञानवताम्**	=ज्ञानवानोंमें
दण्डः	=दण्डनीति (और)	**गुह्यानाम्**	=गोपनीय भावोंमें	**ज्ञानम्**	=ज्ञान
जिगीषताम्	=विजय चाहने-वालोंमें	**मौनम्**	=मौन	**अहम्**	=मैं
		अस्मि	=मैं हूँ	**एव**	=ही
नीतिः	=नीति	**च**	=और	**अस्मि**	=हूँ।

विशेष भाव—यहाँ सामान्य शास्त्रज्ञानसे लेकर तत्त्वज्ञानतक सब-का-सब ज्ञान '**ज्ञानं ज्ञानवतामहम्**' के अन्तर्गत ले सकते हैं।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ ३९॥

च	=और	**अपि**	=भी	**यत्**	=जो
अर्जुन	=हे अर्जुन!	**अहम्**	=मैं ही हूँ; (क्योंकि)	**मया**	=मेरे
सर्वभूतानाम्	=सम्पूर्ण प्राणियोंका	**तत्**	=वह	**विना**	=बिना
यत्	=जो	**चराचरम्**	=चर-अचर (कोई)		
बीजम्	=बीज (मूल कारण) है,	**भूतम्**	=प्राणी	**स्यात्**	=हो अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ।
		न	=नहीं		
तत्	=वह बीज	**अस्ति**	=है,		

विशेष भाव—सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्तिके चार खानि (स्थान) हैं—**१. जरायुज**—जेरके साथ पैदा होनेवाले मनुष्य, गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि; **२. अण्डज**—अण्डेसे पैदा होनेवाले पक्षी, साँप, गिलहरी, छिपकली आदि; **३. उद्भिज्ज**—पृथ्वीका भेदन करके ऊपरकी तरफ निकलनेवाले वृक्ष, लता, दूब, घास, अनाज आदि; और

४. स्वेदज—पसीनेसे पैदा होनेवाले जूँ, लीख आदि तथा वर्षामें जमीनसे पैदा होनेवाले केंचुए आदि जीव। इन चार स्थानोंसे चौरासी लाख योनियाँ पैदा होती हैं। इन योनियोंमें दो तरहके जीव होते हैं—स्थावर और जंगम। वृक्ष, लता, दूब, घास आदि एक ही जगह रहनेवाले जीव 'स्थावर' हैं और मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चलने-फिरनेवाले जीव 'जंगम' हैं। इन जीवोंमें भी कोई जलमें रहनेवाले हैं, कोई आकाशमें रहनेवाले हैं और कोई भूमिपर रहनेवाले हैं। इन चौरासी लाख योनियोंके सिवाय देवता, पितर, गन्धर्व, भूत, प्रेत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस, पूतना, बालग्रह आदि कई योनियाँ हैं। इन सम्पूर्ण योनियोंके बीज अर्थात् मूल कारण भगवान् हैं। तात्पर्य है कि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त जीव हैं, पर उन सबका बीज एक ही है! इसलिये सब रूपोंमें एक भगवान् ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

जैसे बीजसे खेती होती है, ऐसे ही एक भगवान्से यह सम्पूर्ण संसार हुआ है। जिस प्रकार बाजरीसे बाजरी ही पैदा होती है, गेहूँसे गेहूँ ही होता है, पशुसे पशु ही होते हैं, मनुष्यसे मनुष्य ही होते हैं, इसी प्रकार भगवान्से भगवान् ही होते हैं अर्थात् संसाररूपसे भगवान् ही प्रकट होते हैं! जैसे सोनेसे बने गहने सोनारूप ही होते हैं, लोहेसे बने औजार लोहारूप ही होते हैं, मिट्टीसे बने बर्तन मिट्टीरूप ही होते हैं, रुईसे बने वस्त्र रुईरूप ही होते हैं, ऐसे ही भगवान्से होनेवाला संसार भी भगवद्रूप ही है!

लौकिक बीजसे तो एक ही प्रकारकी खेती पैदा होती है। जैसे, गेहूँके बीजसे गेहूँ ही पैदा होता है; ऐसा नहीं होता कि एक ही बीजसे गेहूँ भी पैदा हो जाय, बाजरी भी पैदा हो जाय, मोठ भी पैदा हो जाय, मूँग भी पैदा हो जाय। सबके बीज अलग-अलग होते हैं। परन्तु भगवान्‌रूपी बीज इतना विलक्षण बीज है कि उस एक ही बीजसे अनेक प्रकारकी सृष्टि पैदा हो जाती है* और सब प्रकारकी सृष्टि पैदा होनेपर भी उसमें कोई विकृति नहीं आती, वह

---

* **सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।**
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ (गीता १४।४)

'हे कुन्तीनन्दन! सम्पूर्ण योनियोंमें प्राणियोंके जितने शरीर पैदा होते हैं, उन सबकी मूल प्रकृति तो माता है और मैं बीज-स्थापन करनेवाला पिता हूँ।'

ज्यों-का-त्यों रहता है; क्योंकि वह बीज 'अव्यय' है (गीता ९। १८) और 'सनातन' है (गीता ७। १०)।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ ४०॥

परन्तप	=हे परन्तप अर्जुन!	**अस्ति**	=है।	**एषः**	=यह
मम	=मेरी	**मया**	=मैंने (तुम्हारे सामने अपनी)	**तु**	=तो (केवल)
दिव्यानाम्	=दिव्य	**विभूतेः**	=विभूतियोंका जो		
विभूतीनाम्	=विभूतियोंका	**विस्तरः**	=विस्तार	**उद्देशतः**	=संक्षेपसे नाममात्र कहा है।
अन्तः	=अन्त	**प्रोक्तः**	=कहा है,		
न	=नहीं				

विशेष भाव—गीतामें भगवान्ने कारणरूपसे सत्रह विभूतियाँ (७। ८—१२), कार्य-कारणरूपसे सैंतीस विभूतियाँ (९। १६—१९), भावरूपसे बीस विभूतियाँ (१०। ४-५), व्यक्तिरूपसे पचीस विभूतियाँ (१०। ६), मुख्यरूपसे तथा अधिपतिरूपसे इक्यासी विभूतियाँ (१०। २०—३८), साररूपसे एक विभूति (१०। ३९) और प्रभावरूपसे तेरह विभूतियाँ (१५। १२—१५) बतायी हैं। इन सबका तात्पर्य यही है कि एक भगवान्के सिवाय कुछ नहीं है। सब रूपोंमें एक भगवान्-ही-भगवान् हैं। सब भगवान्का ही समग्ररूप है। असत् परिवर्तनशील है और सत् अपरिवर्तनशील है। ये सत् (परा) और असत् (अपरा)—दोनों ही भगवान्की विभूतियाँ हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। तात्पर्य है कि विभूतिरूपसे साक्षात् भगवान् ही हैं। अतः जिसमें हमारा आकर्षण होता है, वह वास्तवमें भगवान्का ही आकर्षण है। परन्तु भोगबुद्धिके कारण वह आकर्षण भगवत्प्रेममें परिणत न होकर काम, आसक्तिमें परिणत हो जाता है, जो संसारमें बाँधनेवाला है।

गीतामें भगवान्ने ब्रह्मको भी '**माम्**' (अपना स्वरूप) कहा है (८। १३), देवताओंको भी '**माम्**' कहा है (९। २३), इन्द्रको भी '**माम्**' कहा है (९। २०), उत्तम गतिको भी '**माम्**' कहा है (७। १८), क्षेत्रज्ञ-(जीवात्मा-)को भी '**माम्**' कहा है (१३। २), सबके शरीरमें रहनेवाले अन्तर्यामीको भी '**माम्**' कहा है (१६। १८), सम्पूर्ण प्राणियोंके बीजको भी '**माम्**' कहा है (७। १०) आदि। तात्पर्य है कि सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार तथा मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, भूत, प्रेत, पिशाच आदि जो कुछ भी है, वह सब मिलकर भगवान्का ही समग्ररूप है अर्थात् सब भगवान्की ही विभूतियाँ हैं, उनका ही ऐश्वर्य है*। ये सब-की-सब विभूतियाँ अव्यय (अविनाशी) हैं।

यहाँ शंका होती है कि जब सम्पूर्ण संसार ही भगवत्स्वरूप है, तो फिर विभूति-वर्णनका तात्पर्य क्या है? इसका समाधान है कि अर्जुनका प्रश्न ही यही था कि मैं कहाँ-कहाँ आपका चिन्तन करूँ (१०। १७)? वास्तवमें सब कुछ भगवान्का समग्ररूप ही है, पर मनुष्यको जिस वस्तुमें विशेषता दीखती है, उस वस्तुमें भगवान्को देखना, उनका चिन्तन करना सुगम पड़ता है; क्योंकि मनमें उसकी विशेषता अंकित रहनेसे मन स्वतः उसमें जाता है। इसीलिये भगवान्ने अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है। मुख्य-मुख्य विभूतियोंका वर्णन करते हुए भगवान्ने कहा कि सम्पूर्ण प्राणियोंका एवं सृष्टिमात्रका आदि, मध्य तथा अन्त मैं ही हूँ (१०। २०, ३२), सम्पूर्ण प्राणियोंका बीज मैं ही हूँ, मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है (१०। ३९), और सम्पूर्ण जगत् मेरे एक अंशमें स्थित

---

* **सर्वे च देवा मनवस्समस्तास्सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च।**
इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः॥

(विष्णुपुराण ३। १। ४६)

'समस्त देवता, मनु, सप्तर्षि तथा मनुपुत्र और देवताओंके अधिपति इन्द्रगण तथा इनके सिवाय जो कुछ है—ये सब-की-सब भगवान् विष्णुकी ही विभूतियाँ हैं।'

है (१०। ४२), फिर भगवान्‌के सिवाय बाकी क्या रहा? कुछ भी बाकी नहीं रहा! सब कुछ भगवान् ही हुए— **'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)।

गीतामें विभूति-वर्णन गौण नहीं है, प्रत्युत यह भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन है, जिसकी सिद्धि **'वासुदेवः सर्वम्'** में होती है। कारण कि संसारमें हमें जहाँ भी कोई विशेषता दिखायी दे, उसको भगवान्‌की ही विशेषता माननेसे हमारा आकर्षण उस वस्तु, व्यक्ति आदिमें न होकर भगवान्‌में ही होगा। जड़ताका आकर्षण, प्रियता ही मनुष्यको बाँधनेवाली है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। अतः विभूति-वर्णनका तात्पर्य संसारकी सत्ता, महत्ता और प्रियताको हटाकर मनुष्यको **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव कराना है, जो कि गीताका खास ध्येय है।

संसारकी सत्ता, महत्ता और सम्बन्ध ही मनुष्यको बाँधनेवाला है। इसलिये संसारमें जहाँ मनुष्यका ज्यादा आकर्षण होता है, वहाँ उसकी भोगबुद्धि न होकर भगवद्बुद्धि हो जायगी तो उसके अन्तःकरणमें संसारकी सत्ता, महत्ता और सम्बन्ध न होकर भगवान्‌की सत्ता, महत्ता और सम्बन्ध हो जायगा*।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ ४१॥

यत्, यत्	= जो-जो	**सत्त्वम्**	= प्राणी तथा पदार्थ है,	**तेजः**	= तेज-(योग अर्थात् सामर्थ्य-)के
विभूतिमत्	= ऐश्वर्ययुक्त,	**तत्, तत्**	= उस-उसको	**अंशसम्भवम्**	= अंशसे उत्पन्न हुई
श्रीमत्	= शोभायुक्त	**त्वम्**	= तुम	**अवगच्छ**	= समझो।
वा	= और	**मम**	= मेरे		
ऊर्जितम्	= बलयुक्त	**एव**	= ही		

विशेष भाव—पहले कही गयी विभूतियोंके सिवाय भी साधकको स्वतः जिस-जिसमें व्यक्तिगत आकर्षण दीखता है, वहाँ-वहाँ भगवान्‌को ही देखना चाहिये अर्थात् वह विशेषता भगवान्‌की ही है—ऐसा दृढ़तासे धारण कर लेना चाहिये। भगवद्‌बुद्धिकी दृढ़ता होनेसे संसार लुप्त हो जायगा; जैसे—सोनेके गहनोंमें सोनाबुद्धि होनेसे गहने लुप्त हो जाते हैं, खाँड़के खिलौनोंमें खाँड़बुद्धि होनेसे खिलौने लुप्त हो जाते हैं। कारण कि वास्तवमें संसार है नहीं। केवल जीवने ही अपने राग-द्वेषसे संसारको धारण कर रखा है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५)। सार बात यह है कि किसी भी तरह साधकको अन्तमें **'वासुदेवः सर्वम्'** (सब कुछ भगवान् ही हैं) में ही पहुँचना है। इसीलिये भगवान्‌ने अरुन्धतीन्यायसे **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव करानेके लिये ही विभूतियोंका वर्णन किया है; क्योंकि विभूतियोंमें भगवान्‌को देखनेसे फिर सब जगह भगवान् दीखने लग जायँगे अर्थात् वस्तुरूपसे आकर्षण न रहकर भगवद्रूपसे आकर्षण हो जायगा।

मनुष्यमें जो भी विशेषता, विलक्षणता आती है, वह सब वास्तवमें भगवान्‌से ही आती है। अगर भगवान्‌में विशेषता, विलक्षणता न होती तो वह मनुष्यमें कैसे आती? जो चीज अंशीमें नहीं है, वह अंशमें कैसे आ सकती है? मनुष्यसे यही भूल होती है कि वह उस विशेषताको अपनी विशेषता मानकर अभिमान कर लेता है और जहाँसे वह विशेषता आयी है, उस तरफ ख्याल करता ही नहीं!

सृष्टिकी प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति आदि प्रतिक्षण नाशकी ओर जा रहे हैं। हम जिस वस्तु, व्यक्ति आदिमें सुन्दरता, बलवत्ता आदि विशेषता देखते हैं, वे एक दिन नष्ट हो जाते हैं। अतः सृष्टिकी प्रत्येक वस्तु मानो यह क्रियात्मक

---

* **नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।**
स्पर्धाऽसूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥ (श्रीमद्भा० ११। २९। १५)

'जब भक्तका सम्पूर्ण स्त्री-पुरुषोंमें निरन्तर मेरा ही भाव हो जाता है अर्थात् उनमें मुझे ही देखता है, तब शीघ्र ही उसके चित्तसे ईर्ष्या, दोषदृष्टि, तिरस्कार आदि दोष अहंकार-सहित सर्वथा दूर हो जाते हैं।'

उपदेश दे रही है कि मेरी तरफ मत देखो, मैं तो रहूँगी नहीं, मेरेको बनानेवाले और बननेवालेकी तरफ देखो। मेरेमें जो सुन्दरता, सामर्थ्य, विलक्षणता आदि दीख रही है, यह मेरी नहीं है, प्रत्युत उसकी है! ऐसा जान लेनेपर फिर वस्तु, व्यक्ति आदिमें हमारा आकर्षण नहीं रहेगा और प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति आदिमें भगवान्‌के ही दर्शन होंगे। ऐसा होनेपर फिर भोग नहीं होगा, प्रत्युत स्वत: योग (भगवान्‌के साथ नित्य-सम्बन्ध) हो जायगा।

परमात्मा सम्पूर्ण शक्तियों, कलाओं, विद्याओं आदिके विलक्षण भण्डार हैं। शक्तियाँ जड़ प्रकृतिमें नहीं रह सकतीं, प्रत्युत चिन्मय परमात्मतत्त्वमें ही रह सकती हैं। जिस ज्ञानसे क्रिया हो रही है, वह ज्ञान जड़में कैसे रह सकता है? अगर ऐसा मानें कि सब शक्तियाँ प्रकृतिमें ही हैं, तो भी यह मानना पड़ेगा कि उन शक्तियोंका प्राकट्य और उपयोग (सृष्टि-रचना आदि) करनेकी योग्यता प्रकृतिमें नहीं है। जैसे, कम्प्यूटर जड़ होते हुए भी अनेक चमत्कारिक कार्य करता है, पर उसका निर्माण और संचालन करनेवाला चेतन (मनुष्य) है। मनुष्यके द्वारा निर्मित, शिक्षित तथा संचालित हुए बिना वह कार्य नहीं कर सकता। कम्प्यूटर स्वत:सिद्ध नहीं है, प्रत्युत कृत्रिम (बनाया हुआ) है, जबकि परमात्मा स्वत:सिद्ध हैं।

अगर परमात्मामें विशेषता न होती तो वह संसारमें कैसे आती? जो विशेषता बीजमें होती है, वही वृक्षमें भी आती है। जो विशेषता बीजमें नहीं है, वह वृक्षमें कैसे आयेगी? उसी परमात्माकी कवित्व-शक्ति कविमें आती है, उसीकी वक्तृत्व-शक्ति वक्तामें आती है, उसीकी लेखन-शक्ति लेखकमें आती है, उसीकी दातृत्व-शक्ति दातामें आती है। मुक्ति, ज्ञान, प्रेम आदि सब उस परमात्माका ही दिया हुआ है। यह प्रकृतिका कार्य नहीं है। अगर 'मैं मुक्तस्वरूप हूँ'—यह बात सच्ची है तो फिर बन्धन कहाँसे आया, कैसे आया, कब आया और क्यों आया? अगर 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ'—यह बात सच्ची है तो फिर अज्ञान कहाँसे आया, कैसे आया, कब आया और क्यों आया? सूर्यमें अमावसकी रात कैसे आ सकती है? वास्तवमें ज्ञान है तो परमात्माका, पर मान लिया अपना, तभी अज्ञान आया है*। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञान मेरा है—यह 'मैं' और 'मेरा' (अहंता-ममता) ही अज्ञान है† जिससे मुक्ति, ज्ञान, प्रेम आदि मिले हैं, उसकी तरफ दृष्टि न रहनेसे ही ऐसा दीखता है कि मुक्ति मेरी है, ज्ञान मेरा है, प्रेम मेरा है। यह तो देनेवाले-(परमात्मा-)की विलक्षणता है कि लेनेवालेको वह चीज अपनी ही मालूम देती है! परमात्माकी यह विलक्षणता महान् आदर्श है, जिसका साधकोंको आदर करना चाहिये। मनुष्यसे यह बहुत बड़ी भूल होती है कि वह मिली हुई वस्तुको तो अपनी मान लेता है, पर जहाँसे वह मिली है, उस देनेवालेकी तरफ उसकी दृष्टि जाती ही नहीं! वह मिली हुई वस्तुको तो देखता है, पर देनेवालेको देखता ही नहीं! कार्यको तो देखता है, पर जिसकी शक्तिसे कार्य हुआ, उस कारणको देखता ही नहीं! वास्तवमें वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत देनेवाला अपना है।

भगवान्‌की दी हुई सामर्थ्यसे ही मनुष्य कर्मयोगी होता है, उनके दिये हुए ज्ञानसे ही मनुष्य ज्ञानयोगी होता है और उनके दिये हुए प्रेमसे ही मनुष्य भक्तियोगी होता है। मनुष्यमें जो भी विलक्षणता, विशेषता देखनेमें आती है, वह सब-की-सब उन्हींकी दी हुई है। सब कुछ देकर भी वे अपनेको प्रकट नहीं करते—यह उनका स्वभाव है।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ ४२॥

---

* ज्ञान अथवा जाननेकी शक्ति प्रकृतिमें नहीं है। प्रकृति एकरस रहनेवाली नहीं है, प्रत्युत प्रतिक्षण बदलनेवाली है। अगर प्रकृतिमें ज्ञान होगा तो वह ज्ञान भी एकरस न रहकर बदलनेवाला हो जायगा। जो ज्ञान पैदा होगा, वह सदाके लिये नहीं होगा, प्रत्युत अनित्य होगा। अगर कोई माने कि ज्ञान प्रकृतिमें ही है तो उसी प्रकृतिको हम परमात्मा कहते हैं, केवल शब्दोंमें फर्क है। तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञान प्रकृतिमें नहीं है, अगर है तो वही परमात्मा है।

† **मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥**

(मानस, अरण्य० १५। १)

अथवा	= अथवा	**किम्**	= क्या आवश्यकता है, (जबकि)	**कृत्स्नम्**	= सम्पूर्ण
अर्जुन	= हे अर्जुन!	**अहम्**	= मैं	**जगत्**	= जगत्को
तव	= तुम्हें	**एकांशेन**	= (अपने किसी) एक अंशसे	**विष्टभ्य**	= व्याप्त करके
एतेन	= इस प्रकार	**इदम्**	= इस	**स्थितः**	= स्थित हूँ अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्ड मेरे किसी एक अंशमें हैं।
बहुना	= बहुत-सी बातें				
ज्ञातेन	= जाननेकी				

विशेष भाव—इस श्लोकका तात्पर्य है कि भगवान् ही जगत्-रूपसे स्थित हैं; क्योंकि व्याप्य और व्यापक, सूक्ष्म और महान्, सत् और असत्—दोनों भगवान् ही हैं। भगवान् अनन्त हैं, इसीलिये अनन्त ब्रह्माण्ड उनके किसी एक अंशमें स्थित हैं—**'एकांशेन स्थितो जगत्'।**

भगवान्के कथनका तात्पर्य अपनी तरफ दृष्टि करानेमें है कि सब कुछ मैं ही तो हूँ! मेरी तरफ देखनेसे फिर कोई भी विभूति बाकी नहीं रहेगी। जब सम्पूर्ण विभूतियोंका आधार, आश्रय, प्रकाशक, बीज (मूल कारण) मैं तेरे सामने बैठा हूँ, तो फिर विभूतियोंका चिन्तन करनेकी क्या जरूरत?

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥